अध्याय ७

अभृतानां भवेद् भर्ता

निराश्रितों का आश्रय

अभृतानां भवेद् भर्ता भृत्यानामन्ववेक्षकः।[१]

अपने भृत्यों का तुम अत्यन्त सावधानीपूर्वक भरण-पोषण करो और जिनका भरण करने वाला अन्य कोई न हो, उनके तुम स्वयं भर्ता हो जाओ।

भीष्म पितामह महाभारत के शान्ति पर्व में युधिष्ठिर को राजधर्म की शिक्षा देते हुए यह आदेश देते हैं और इसके अनन्तर शान्ति पर्व का मात्र एक अध्याय छोड़कर हम भीष्म पितामह को ब्रह्मा-कृत नीतिशास्त्र के प्रसङ्ग से प्रायः ठीक यही आदेश दोहराते हुए सुनते हैं।[२]

भीष्म पितामह इस प्रकार राजा युधिष्ठिर को एक महान् गृहस्थ बनने का ही परामर्श दे रहे हैं। उनका आदेश है कि अनुशासित धर्मनिष्ठ राजा बनने के लिये युधिष्ठिर को अनुशासित धर्मनिष्ठ गृहस्थ के ही समान सब के सावधानीपूर्वक भरण-पोषण का दायित्व अपने ऊपर ले लेना होगा। वस्तुतः भारतीय परम्परा में राजा किसी बहुत बड़े कुटुम्ब का निर्वाह करने वाले महान् गृहस्थ-सा ही होता है। राजा का गार्हस्थ्य दायित्व निश्चय ही सामान्य गृहस्थ के दायित्व से कहीं गुरुतर होता है। राजा को सामान्य गृहस्थ की भाँति ही अपने आसपास के समस्त जीवों का पोषण तो करना ही होता है और सीधे अपने पर निर्भर अपने भृत्यों के समुचित भरण का प्रबन्ध भी करना ही होता है। परन्तु जैसा कि भीष्म का आदेश है, राजा को अपने राज्य में स्थित उन सब के भरण-पोषण का दायित्व भी उठाना होता है जिनको अपने समाज में भरण का कोई साधन अथवा कोई भर्ता प्राप्त न हो। अपने कुटुम्बियों, भृत्यों एवं अपने घर पर आने वाले

[१] महाभारत *शान्ति* ५७.१९, पृ.४५६५।
[२] महाभारत *शान्ति* ५९.५४, पृ.४५७३।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

निराश्रितों का आश्रय

अतिथियों के लिये तो राजा सामान्य गृहस्थ ही है। किसी भी अन्य अनुशासित गृहस्थ की भाँति वह उन सब का सावधानीपूर्वक भरण करता है, उनका अन्ववेक्षक बनता है। परन्तु राजा का दायित्व अपने गृह से आगे पूरे राज्य तक व्याप्त होता है। राज्य में कहीं भी कोई अर्थी हो, उसका भरण करने का दायित्व अन्ततः राजा पर ही आता है। पूरा राज्य ही मानो उसका गृह है। इस महान् गृह का गृही होना, पूरे राज्य का सावधानीपूर्वक भरण करना ही भारतीय परम्परा में राजा का मुख्य धर्म माना गया है।

आर्ष साहित्य में भूखे एवं निराश्रय लोगों के प्रति राजा के दायित्व का निर्देश पुनः पुनः आता है। आर्ष साहित्य का आग्रह है कि यदि राज्य में कहीं कोई भूखा एवं निराश्रय रहने को बाध्य होता है तो उस धर्मविरुद्ध परिस्थिति का पाप राजा के ही सिर पर आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य का प्रमुख गृहस्थ होने के नाते राजा को उन सब सामान्य गृहस्थों के पाप में भागी होना होता है जो अभाव अथवा अज्ञानवश अन्यों का भरण-पोषण किये बिना स्वयं भोजन ग्रहण करने का पापकर्म करते हैं। इतना ही नहीं, भारतीय परम्परा में तो प्राकृतिक विपदा के समय व्याप्त भूख एवं दारिद्र्य का उत्तरदायी भी राजा को ही माना गया है। जैसा कि हम देखेंगे, आर्ष साहित्य में राजा को काल का कारण कहा गया है। अतः काल की विकृति के कारण प्रजा में भरण-पोषण का अभाव होने का दोष भी राजा पर ही आता है।

राजधर्म के सन्दर्भ में धर्मशास्त्रों में दण्ड एवं क्षत्र के धर्मसम्मत वहन का विस्तृत विधान किया जाता है। परन्तु यह तो सर्वदा स्पष्ट रहता है कि दण्ड एवं क्षत्र का वहन राष्ट्ररूपी वृहत् कुटुम्ब के समुचित भरण-पोषण के हित में ही किया जायेगा। दण्ड एवं क्षत्र राजा को मुख्यतः इसीलिये प्राप्त हैं कि इनके अनुशासित उपयोग से वह भरण-पोषण के अपने वृहद् दायित्व की परिधि में आने वाली जीवसृष्टि का निर्वाह अक्षुण्ण बनाये रखे और इस प्रकार एक महान् गृहस्थ होने का अपना उत्तरदायित्व निभाता रहे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में तो राजधर्म के अनुशासन का प्रारम्भ ही राजा को एक महान् गृहस्थ के रूप में प्रतिष्ठापित करने के विधान से होता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का महान् गृहस्थ

अन्य धर्मशास्त्रों की भाँति आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी विभिन्न वर्णों एवं विभिन्न आश्रमों के लिये अनुसरणीय दिन प्रति दिन के जीवन के अनुशासन का ही मुख्यतः प्रतिपादन हुआ है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र मात्र राजनीति का ग्रन्थ नहीं है। राजधर्म की चर्चा आपस्तम्ब धर्मसूत्र के प्रायः अन्त में आती है। सब वर्णों के सामान्य एवं विशेष धर्मों का प्रतिपादन करने के उपरान्त ही सूत्रकार

राजधर्म की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। इस सन्दर्भ में उनका सङ्कल्पवाक्य है – व्याख्यातास्सर्ववर्णानां साधारणवैशेषिका धर्मा राज्ञस्तु विशेषाद्वक्ष्यामः।[३]

राजधर्म का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हुए आपस्तम्ब सर्वप्रथम राजा को दक्षिणाभिमुख पुर और पुर के मध्य दक्षिणाभिमुख ही अपने निजी गृह वेश्म की स्थापना करने का आदेश देते हैं। इसके अनन्तर राजा को अपने घर पर आने वाले समस्त याचकों एवं अतिथियों के आतिथ्य के लिये एक वृहद् गृह, आवसथ का निर्माण करवाना होता है, और अन्ततः उसे सार्वजनिक कार्यों के लिये सभागृह बनवाना होता है।

आपस्तम्ब का निर्देश है कि इन तीन गृहों का निर्माण करवाने के उपरान्त राजा को इन तीनों ही गृहों में गृह्याग्नि प्रतिष्ठापित करनी चाहिये और इस प्रकार मानो त्रिविध गृहस्थ होकर राज्य का वहन प्रारम्भ करना चाहिये। इस सम्बन्ध में सूत्रवाक्य हैं[४] –

सर्वेष्वेवाऽजस्रा अग्नयस्स्युः ॥

वेश्म, आवसथ एवं सभा तीनों ही गृहों में अजस्र लौकिक अग्नि प्रज्वलित की जाये।

अग्निपूजा च नित्या यथा गृहमेधे ॥

गृहस्थ के लिये नियत विधान के अनुरूप ही राजा इन तीनों अग्नियों की नित्य पूजा करे।

आवसथे श्रोत्रियावराध्यानतिथीन् वासयेत् ॥

आवसथ में श्रोत्रियों एवं अन्य सब अतिथियों को ठहराया जाये।

तेषां यथागुणमावसथाः शय्याऽन्नपानं च विदेयम् ॥

आवसथ में ठहरे अतिथियों के लिये उनके गुणों के अनुरूप उपयुक्त शय्या एवं अन्नपान अर्पण किया जाये।

गुरूनमात्यांश्च नातिजीवेत् ॥

राजा को कदापि अपने गुरुजनों एवं अमात्यों से ऊँचा जीवन नहीं जीना चाहिये, उसे न उनसे श्रेष्ठ भोजन करना चाहिये, न उनसे श्रेष्ठ वस्त्र पहनने चाहियें।

[३] आपस्तम्ब २.२५.१, पृ.२८३।
[४] आपस्तम्ब २.२५.६-११, पृ.२८४।

निराश्रितों का आश्रय

न चास्य विषये क्षुधा रोगेण हिमातपाभ्यां वाऽवसीदेदभावाद्बुद्धिपूर्वं वा कश्चित् ॥

राजा को यह सर्वदा सुनिश्चित करना चाहिये कि उसके राज्य में कोई भी भूख अथवा रोग से पीड़ित न हो और न ही कोई शीत अथवा आतप का कष्ट झेलने को बाध्य हो। राज्य में कोई किसी भी परिस्थिति में इस प्रकार पीड़ित नहीं होना चाहिये। सामान्य अभाव के कारण अथवा किसी के विरुद्ध विशेषतः लगाए गये दण्ड आदि के कारण भी कोई क्षुधा, रोग, शीत अथवा ताप के कष्ट में तो नहीं पड़ना चाहिये।

राजा के लिये प्रतिपादित इस अनुशासन से स्पष्ट है कि भीष्म पितामह के समान आपस्तम्ब के लिये भी राजा किसी महान् गृहस्थ-सा ही होता है। आपस्तम्ब के इस महान् गृहस्थ का अनुशासन सामान्य गृहस्थ के अनुशासन से कहीं कठिन है। राजा को एक नहीं तीन-तीन गृह्याग्नियों का संरक्षण करना होता है, तीन गृहों के भरण-पोषण का दायित्व उठाना होता है। राजा अपने निजी गृह वेश्म, उसका निजी आतिथ्य पाने वालों के निवास गृह आवसथ और सर्वसाधारण के प्रतिनिधि गृह सभा तीनों का निर्वाह करता है। इतना महान् गार्हस्थ्य दायित्व निभानेवाले गृहस्थ के लिये मर्यादित एवं मितव्ययी होना तो कदाचित् अनिवार्य ही है, अपने गुरुजनों एवं अमात्यों से बढ़कर खाना-पहनना ऐसे गृहस्थ को शोभा नहीं दे सकता। उसे तो सर्वदा संयम से रहते हुए सावधानीपूर्वक पूरे राष्ट्र का भरण करना होता है, सतत इस प्रयास में लगे रहना होता है कि राष्ट्र में कहीं कोई भूखा-प्यासा न रह जाये, सब आधि-व्याधि से बचे रहें और कोई भी ऐसा दरिद्र न हो कि शीत-आतप से भी अपनी रक्षा न कर पाये।

महाभारत के महान् गृहस्थ राजा युधिष्ठिर

वनवासी युधिष्ठिर की चिन्ता

महाभारत के आदर्श राजा तो युधिष्ठिर ही हैं और राजा युधिष्ठिर को राजाओं के बल-वैभव एवं ठाठ-बाट का किञ्चित् भी मोह नहीं है। राजा युधिष्ठिर अनेक वर्षों तक राज्य से निर्वासित रहते हैं, इस लम्बी अवधि में उन्हें अपने राजसी बल-वैभव के खो जाने का कभी कोई खेद हुआ हो, ऐसा तो नहीं दिखायी देता। वस्तुतः महाभारत युद्ध में विजयी होकर जब वे अपना अधिकार पुनः प्राप्त कर लेते हैं तब भी वे राजसिंहासन के प्रति अनासक्त ही दिखायी देते हैं। अनन्त धैर्यशीला द्रौपदी, दीर्घ वनवास एवं भीषण युद्ध के कष्टों से निकले पाण्डव बन्धुओं, विद्वान्

पितामह भीष्म, अनेक सुहृद् महर्षियों और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के पुनः पुनः आग्रह करने के उपरान्त ही युधिष्ठिर अपने-आप को राजसिंहासन पर बैठने के लिये उद्यत कर पाते हैं।

ऐसे अनासक्त एवं मोहरहित राजा युधिष्ठिर भी अन्यों का और विशेषतः अपने पर निर्भर भृत्यों एवं अनुयायिओं का भरण-पोषण करने के गार्हस्थ्य उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसीलिये वनपर्व के आरम्भ में हम युधिष्ठिर को अपनी नितान्त अर्थाभाव की स्थिति के प्रति क्षुभित होते हुए देखते हैं। यह महाभारत में कदाचित् एकमात्र ऐसा प्रसङ्ग है जहाँ युधिष्ठिर अपना राज्य छिन जाने के लिये दुःख व्यक्त करते हैं। परन्तु उन्हें दुःख राजसी बल-वैभव एवं धन-सम्पदा के खो जाने का नहीं, अपितु अन्यों के भरण-पोषण के लिये समुचित साधनों के अभाव का ही है। जब ऋषि शौनक और स्वेच्छा से वन में उनका अनुगमन करने वाले अन्य विप्र भौतिक वैभव की निस्सारता की शिक्षा देकर उन्हें सान्त्वना देने की चेष्टा करते हैं तब युधिष्ठिर उन्हें यही कहते हैं कि वे लोभवश नहीं, अन्यों के भरण का गार्हस्थ्य दायित्व निभाने के लिये ही भौतिक साधनों की आकाङ्क्षा कर रहे हैं। युधिष्ठिर के अपने शब्दों में –

नार्थोपभोगलिप्सार्थमियमर्थेप्सुता मम।
भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन् काङ्क्षे न लोभतः ॥[५]

ब्रह्मन् शौनक! मुझ में धन प्राप्त करने की यह जो इच्छा जागृत हो रही है वह स्वयं अर्थोपभोग में रत होने की लालसा से नहीं उठी। मैं लोभवश नहीं अपितु विप्रों के भरण-पोषण के लिये ही धन की आकाङ्क्षा करता हूँ।

कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन् वर्तमानो गृहाश्रमे।
भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम् ॥[६]

ब्रह्मन्! यह कैसे हो सकता है कि गृहस्थाश्रम में रहने वाला मेरे जैसा कोई गृही अपने अनुयायिओं का भरण-पोषण भी न करे?

आगे युधिष्ठिर राजा के गार्हस्थ्य दायित्व का विशद वर्णन करने लगते हैं और उनका यह वर्णन सामान्य गृहस्थ के मनुप्रणीत अनुशासन से भिन्न नहीं दिखता। वस्तुतः युधिष्ठिर यहाँ प्रायः उन्हीं शब्दों का उपयोग करते सुनायी देते हैं जिन्हें पहले हम मनुस्मृति के पञ्चयज्ञानुशासन के सन्दर्भ में सुन चुके हैं। युधिष्ठिर कहते हैं –

[५] महाभारत *वन* २.५१, पृ.९५२।
[६] महाभारत *वन* २.५२, पृ.९५२।

निराश्रितों का आश्रय

संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥[७]

सब पदार्थों में सभी भूतों का भाग हुआ करता है। इसलिये गृहस्थ के लिये यह अनुशासन है कि वह अपने भोजन में से उन सब के लिये समुचित अंश अर्पित करे जो स्वयं अन्न नहीं पकाया करते।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥[८]

आसन के लिये भूमि, स्नानादि के लिये जल, सोने के लिये तृणों की शय्या और चौथे, स्नेहसिक्त वाणी, इन चार का तो सज्जनों के घर में कभी अभाव नहीं हुआ करता।

देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥[९]

रोगी के लिये शय्या, श्रान्त के लिये आसन, प्यासे के लिये पानी और भूखे के लिये भोजन तो सर्वदा देना ही होता है।

गृहस्थ के अन्य सब का और विशेषतः अतिथियों एवं अभ्यागतों का समुचित भरण-पोषण करने के दायित्व का स्मरण युधिष्ठिर इसी प्रकार अनेक श्लोकों में करते हैं। अन्त में वे ऋषि शौनक से कहते हैं कि अन्यों का भरण करना तो गृहस्थ का अनन्य धर्म है, क्या शौनक अब इस अर्थाभाव के समय उन्हें इस धर्म की उपेक्षा करने का परामर्श दे पायेंगे? युधिष्ठिर पूछते हैं –

एवं यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे।
तस्य धर्मं परं प्राहुः कथं वा विप्र मन्यसे ॥[१०]

विप्र! जो गृहस्थाश्रम में रहते हुए अन्यों के भरण-पोषण की इस वृत्ति का निर्वाह करता रहता है उसे निश्चय ही परम धर्म की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है। आपकी इस विषय में क्या सम्मति है?

---

[७] महाभारत *वन* २.५३, पृ.९५२।
[८] महाभारत *वन* २.५४, पृ.९५२।
[९] महाभारत *वन* २.५५, पृ.९५२।
[१०] महाभारत *वन* २.६३, पृ.९५३।

युधिष्ठिर अपने अनुयायियों के भरण का दायित्व किसी भी स्थिति में छोड़ने को प्रस्तुत नहीं हैं। इस वृत्ति के पालन के लिये समुचित साधन प्राप्त करने के प्रति उनका आग्रह अत्यन्त उत्कट है। वे इस विषय में सतत चिन्ता करते रहते हैं। अन्ततः उनके कुलपुरोहित धौम्य उन्हें सूर्य भगवान् का आश्रय लेने को कहते हैं। धौम्य युधिष्ठिर को बतलाते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में जब सब प्राणी भूख से व्याकुल हो रहे थे तो सूर्य ने ही अपनी किरणों से जलरूपी रस को खींच कर पुनः उस रस से पृथिवी को सींचा था। सूर्य के इस उपकार से ही पृथिवी पर खेत सम्भव हुए और अन्न की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार सब भूतों के प्राण की रक्षा करने वाले भगवान् सूर्य सब के पिता समान हैं, और सब के प्राणों का धारक अन्न सूर्यरूप ही है। इसलिये युधिष्ठिर को सूर्य की ही उपासना करनी चाहिये। ऋषि धौम्य कहते हैं –

एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम्।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात् तं शरणं व्रज ।।[११]

समस्त भूतों के प्राणों को धारण करने वाला, सब के जीवन का प्राणरक्षक अन्न भानुमय ही है, सूर्य से ही उसका उद्भव हुआ है। इस प्रकार सूर्य सब भूतों के पिता समान ही हैं। अतः उन्हीं सूर्य भगवान् की शरण में जाओ।

सूर्य के अन्न का स्रष्टा होने और इसलिये समस्त अन्न के भानुमय होने का यह बोध आर्ष साहित्य में अनेक स्थानों पर व्यक्त होता है। पहले हम श्रीकृष्ण को अन्न के सूर्य से सम्भव होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए सुन चुके हैं और अगले अध्याय में हम उपनिषद् से इसी शिक्षा का श्रवण करेंगे। परन्तु अभी युधिष्ठिर के निर्वासन के प्रारम्भिक दिनों की कथा को आगे बढ़ाया जाये।

अपने अनुयायिओं के भरण-पोषण के लिये समुचित साधन जुटाने के लिये व्यग्र युधिष्ठिर ऋषि धौम्य का परामर्श मानकर अत्यन्त कठिन तप का आश्रय लेते हुए भगवान् सूर्य की उपासना में लीन हो गये। अन्ततः सूर्य भगवान् युधिष्ठिर के तप एवं उपासना से प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वयं प्रकट होकर युधिष्ठिर को अक्षयपात्र भेंट करते हुए वर दिया कि जब तक द्रौपदी इस पात्र से अन्न परोसती रहेंगी तब तक इस पात्र से अक्षय भोजन उपलब्ध होता रहेगा, प्रतिदिन सब को भोजन करवाने के उपरान्त जब द्रौपदी स्वयं भोजन ग्रहण करेंगी तभी इस पात्र में भोजन समाप्त हुआ करेगा।

[११] महाभारत *वन* ३.९, पृ.९५५।

निराश्रितों का आश्रय

इस प्रकार अक्षयपात्र प्राप्त करने और उसके प्रभाव से अपने भृत्यों, अनुयायियों एवं अपने पास आने वाले अतिथियों-अभ्यागतों के समुचित भरण-पोषण का सामर्थ्य पाने के उपरान्त ही युधिष्ठिर स्वस्थ हो निर्वासित जीवन में रमने लगते हैं। वे राजसी बल-वैभव का त्याग करते हुए तो किञ्चित् भी शोक नहीं करते, परन्तु न्यायसम्मत राजा होने के नाते उन पर महान् गृहस्थ का जो दायित्व आता है उसे छोड़ने को वे कदापि तत्पर नहीं हो पाते। अपने निर्वास के पहले बारह वर्ष तो वे पर्याप्त बड़ा और कदाचित् राजसी घर-द्वार चलाते ही दिखते हैं। निर्वास के अन्तिम वर्ष-भर की अवधि में जब पाण्डव विराट के भृत्य होकर रहते हैं, केवल तभी वे महान् गृहस्थ के दायित्व का ठीक से निर्वाह करने में असमर्थ हुए दिखायी देते हैं।

इन्द्रप्रस्थ का महान् गृहस्थ

वन पर्व में बहुत आगे चलकर द्रौपदी-सत्यभामा संवाद पर्व आता है। इस अत्यन्त सशक्त संवाद के कुछ अंशों को हम पिछले अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं। वहाँ द्रौपदी सत्यभामा को बतलाती हैं कि कैसे वे वन में भी गृहस्थ के अनुशासन का अनुसरण करती हैं, कैसे वे स्वयं भोजन करने से पहले भृत्यों एवं अतिथियों को विधिपूर्वक भोजन करवाती हैं और कैसे वे प्रतिदिन श्राद्ध, भिक्षा, बलि आदि गार्हस्थ्य नित्यकर्मों का सम्पादन करती हैं। इसी प्रसङ्ग में वे उन दिनों का स्मरण करती हैं जब युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ में राजसिंहासन पर आरूढ हो गृहस्थाश्रम का निर्वाह करते थे। द्रौपदी सत्यभामा को बतलाती हैं कि कैसे इन्द्रप्रस्थ के उनके महान् घर-द्वार में सहस्रों ब्राह्मण, स्नातक एवं यति आश्रय एवं भोजन पाते थे और कैसे वहाँ दिन-रात आने वाले असंख्य अतिथियों के स्वागत-सत्कार के लिये शतसहस्रों सुसज्जित महिलाएँ हाथों में भोजन के थाल लिये सदैव तत्पर खड़ी रहती थीं।[१२]

द्रौपदी को राजसी घर-द्वार का ही नहीं, राजसी बल-वैभव का भी ध्यान रहता है। महाभारत के प्रमुख पात्रों में से कदाचित् द्रौपदी और श्रीकृष्ण ही ऐसे हैं जिनमें बल के सम्यक् सङ्ग्रह एवं सम्यक् नियोजन के प्रति किसी प्रकार की कोई दुविधा नहीं है। इन्द्रप्रस्थ में बिताये अपने दिनों का स्मरण करते हुए द्रौपदी केवल घर-द्वार की बातें ही नहीं करतीं, वे सत्यभामा को उन सहस्रों युद्धवीर राजओं के विषय में भी बताती हैं जो इन्द्रप्रस्थ आकर राजा युधिष्ठिर के चरणों में बैठा करते थे, और वे उन विपुल बलशाली महाराज युधिष्ठिर का भी स्मरण करती हैं जिनके यात्रा पर निकलने पर शतसहस्र अश्व एवं शतसहस्र हाथी उनका अनुसरण करते थे। इन्द्रप्रस्थ के चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिर के अतुलनीय बल-वैभव का वे अपने निर्वास की अवधि

[१२] महाभारत *वन* २३३, पृ.१६१८-२२।

Centre for Policy Studies *www.cpsindia.org*

में एकदा पुनः भी स्मरण करती हैं – विराट पर्व में विराट राज्य के बलशाली परन्तु कामुक सेनापति कीचक के अपमानजनक व्यवहार का प्रतिकार करने के लिये भीमसेन को प्रेरित करते हुए द्रौपदी इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों के उसी बल-वैभव का ही आह्वान करती हैं।[१३]

परन्तु द्रौपदी की प्रियतम स्मृतियाँ तो इन्द्रप्रस्थ के उस महान् घर-द्वार की हैं जहाँ दिन-रात अतिथि एवं अभ्यागत आते रहते थे और उन सब के लिये सर्वदा भोजन उपलब्ध रहता था, उस उदार घर-द्वार की जहाँ आकर न केवल विद्वान् एवं यति-संन्यासी ही आश्रय एवं भोजन पाते थे अपितु वृद्ध, बालक और रोगी भी और जिनका कहीं कोई शरण स्थान नहीं था, जिनका भरण करने वाला अन्य कोई नहीं था, वे सब जहाँ पहुँचकर सादर आश्रय एवं भरण-पोषण को प्राप्त हो जाते थे। सत्यभामा को अपनी दिनचर्या के विषय में बतलाते हुए वे सब आने वालों का भरण-पोषण करने वाले उस घर-द्वार का ही अधिकतर स्मरण करती हैं, उस घर के उदार गृहस्थ एवं चक्रवर्ती राजा युधिष्ठिर के बल-वैभव की चर्चा तो वे प्रसङ्गवश ही करती दिखायी देती हैं। विराट पर्व में भयङ्कर विपत्ति एवं अवमान की परिस्थिति में होते हुए भी द्रौपदी को इन्द्रप्रस्थ के महान् बलशाली राजा युधिष्ठिर का उतना स्मरण नहीं होता जितना इन्द्रप्रस्थ के महान् एवं अत्यन्त उदार गृहस्थ युधिष्ठिर का होता है।

कुन्ती की प्रेरणा

महाभारत में और आगे उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण आसन्न युद्ध को टालने का एक और प्रयास करने हस्तिनापुर आते हैं। उस समय कुन्ती श्रीकृष्ण के माध्यम से युधिष्ठिर को सन्देश भेजती हैं कि उनके लिये क्षत्रियोचित शौर्य से अपना राज्य पुनः प्राप्त करना ही शोभनीय है। कुन्ती श्रीकृष्ण से युधिष्ठिर के समक्ष यह स्पष्ट करने के लिये कहती हैं कि सब परिस्थितियों में शान्ति बनाये रखने का युधिष्ठिर का आग्रह न तो युक्तियुक्त है और न ही उस राजधर्म के अनुरूप जिसकी शिक्षा उनके पूर्वज सर्वदा देते आये हैं और जिस पर सम्यक् आचरण की अपेक्षा उन्हें अपनी सन्तान से सतत रहती है। इस प्रकार कुन्ती युधिष्ठिर को सीधे-सीधे युद्ध के लिये प्रेरित करते हुए दिखायी देती हैं।

परन्तु यह भीषण युद्ध युधिष्ठिर को इसलिये लड़ना है कि वे राज्य जीतकर राष्ट्र के भरण-पोषण के अपने दायित्व का समुचित निर्वाह करने का अवसर पा सकें। राष्ट्र के भरण का जो वर्णन कुन्ती करती हैं वह किसी महान् गृहस्थ के अनुशासित जीवन से भिन्न नहीं है। कुन्ती अपने पुत्र को युद्ध के लिये इसलिये प्रेरित कर रही हैं कि वह महान् गृहस्थ के अनुशासन का

[१३] महाभारत *विराट* १८, पृ.१८९६-९९।

पालन कर सके, गृहस्थ के लिये नियत यज्ञों का सम्पादन करते हुए अपनी ओर दृष्टि लगाये रहने वाले राष्ट्र का समुचित भरण कर सके। श्रीकृष्ण के माध्यम से युधिष्ठिर को भेजा गया कुन्ती का सन्देश है कि –

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न चाहं न पितामहः।
प्रयुक्तवन्तः पूर्वं ते यया चरसि मेधया।
यज्ञो दानं तपः शौर्यं प्रज्ञा संतानमेव च।
माहात्म्यं बलमोजश्च नित्यमाशंसितं मया।
नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं दद्युर्मानुषदेवताः।
दीर्घमायुर्धनं पुत्रान् सम्यगाराधिताः शुभाः।
पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च।
दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम्।
एतद् धर्म्यमधर्म्यं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः।
ते तु वैद्याः कुले जाता अवृत्त्या तात पीडिताः।
यत्र दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवीचराः।
प्राप्य तुष्टाः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः॥[१४]

न तुम्हारे पिता पाण्डु ने, न पितामह भीष्म ने और न मैंने ही कभी तुम्हें उस मार्ग पर चलने के लिये आशीर्वाद दिया है जिस पर चलते तुम दिखायी देते हो। मैंने तो सर्वदा तुमसे यज्ञ, दान एवं तप की ही अपेक्षा की है, तुम्हें नित्य शौर्यवान्, प्रज्ञावान् एवं सन्तानवान् होने का ही आशीर्वाद दिया है और तुम में बल, ओज एवं माहात्म्य देखने की ही आशा मैं करती रही हूँ।

मैंने सर्वदा यही कामना की है कि शुभ ब्राह्मण तुम्हारे लिये नित्य होम एवं तर्पण करते रहें और तुमसे सम्यक् आराधना स्वीकार कर तुम्हें दीर्घायु एवं विपुल धनवान् तथा पुत्रवान् होने का आशीर्वाद देते रहें। पितरों और देवों की तो सदा यही अपेक्षा होती है कि उनकी सन्तानें यज्ञ, दान एवं अध्ययन में रत रहकर सावधानीपूर्वक प्रजा का पालन करती रहेंगी।

[१४] *महाभारत उद्योग* १३२.२३-२८, पृ.२३९७।

श्रीकृष्ण! आप तो सहज ही यह जानते हो कि जो मैं कह रही हूँ वह धर्मसम्मत है अथवा धर्मविरुद्ध। परन्तु तात! पाण्डव उत्तम कुल में उत्पन्न होकर और विभिन्न विद्याओं में पारङ्गत होकर भी अवृत्ति से पीड़ित रहते हैं, वे सम्यक् कर्म करने के लिये उद्यत ही नहीं हो पाते। धर्म की स्थापना तो तभी होती है जब पृथिवी के क्षुधित लोग किसी दानपति शूरवीर को पाकर उसके माध्यम से सन्तुष्टि को प्राप्त होते हैं। दानपति शूरवीर के ऐसे कर्म से ऊँचा धर्म भला अन्य क्या हो सकता है?

हस्तिनापुर के महान् गृहस्थ युधिष्ठिर

महाभारत में बहुत आगे महाभारत युद्ध की समाप्ति के उपरान्त शान्ति पर्व के प्रारम्भ पर हम द्रौपदी एवं पाण्डव बन्धुओं को युधिष्ठिर से हस्तिनापुर का राजसिंहासन स्वीकार करने का आग्रह करते हुए सुनते हैं। वहाँ संन्यास के प्रति आकृष्ट युधिष्ठिर को राज्य का दायित्व सँभालने के लिये मनाते हुए पाण्डव बन्धु पुनः पुनः महान् गृहस्थ के वैभव और पुण्य की ही चर्चा करते दिखते हैं। यह सत्य है कि इस अवसर पर द्रौपदी गृहस्थ जीवन के माहात्म्य से विशेष प्रभावित नहीं दिखतीं। युधिष्ठिर के संन्यास के प्रति असामयिक आकर्षण एवं आग्रह से वे अत्यन्त खिन्न हैं। अपनी इस आत्मवञ्चनात्मक वृत्ति से युधिष्ठिर को लौटाने के लिये वे उनके शौर्य एवं प्रज्ञा को ललकारती हैं और अपने भाइयों के बाहुबल से विजित राजशक्ति का समुचित उपभोग करने का आह्वान करती हैं। वे इस अवसर पर युधिष्ठिर को अन्यों के भरण का दायित्व निभाने वाले किसी महान् गृहस्थ के रूप में ही नहीं, अपितु ऐसे बलशाली महान् राजा के रूप में भी देखना चाहती हैं जिसके समक्ष पृथिवी के अन्य राजा श्रद्धा से झुक जाते हों।

परन्तु युधिष्ठिर के भाई तो उन्हें संन्यास के मार्ग से निवृत्त कर महान् गृहस्थ का दायित्व सौंपने में ही सन्तुष्ट दिखते हैं। वे धर्म के पक्ष में राजशक्ति का उपयोग करने के राजा के दायित्व की बात तो करते हैं, पर अधिकतर वे पितरों एवं देवों को तृप्त करने, भृत्यों का पालन करने और अतिथियों एवं अभ्यागतों का समुचित आतिथ्य करने के गार्हस्थ्य दायित्वों की ही चर्चा करते हैं। अर्जुन और नकुल इस अवसर पर गृहस्थाश्रमधर्म की सुदीर्घ व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, और महान् बाहुबल के धनी भीमसेन भी राजशक्ति का सम्यक् नियोजन करने के लिये नहीं अपितु अन्यों का भरण करने का अवसर पाने के लिये ही युधिष्ठिर से हस्तिनापुर का राज्य स्वीकार करने का आग्रह करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो पाण्डव बन्धु युधिष्ठिर को हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर नही कुरुवंश के प्रमुख गृहस्थ के पद पर आसीन होने के लिये ही आमन्त्रित कर रहे हों।[१५]

[१५] महाभारत *शान्ति* ७ से १८, पृ.४४३५-४४६३।

निराश्रितों का आश्रय

भीष्म का आशीर्वाद

भीष्म पितामह युधिष्ठिर को राजधर्म की दीर्घ शिक्षा देते हुए निश्चय ही राजपद के सभी पक्षों का और सभी दायित्वों का विवेचन करते हैं। राजधर्म की इस दीर्घ व्याख्या से भौतिक जीवन के अनुशासन से सम्बन्धित धर्म का सम्पूर्ण वर्णन हो जाता है, इस विषय में जो भी जानने योग्य है वह कह दिया जाता है। राजधर्म के इस वृहद् विवेचन में भीष्म पितामह अनेक स्थानों पर राजा के महान् गार्हस्थ्य दायित्व का विषय उठाते हैं। अनेक अवसरों पर वे युधिष्ठिर को स्मरण कराते हैं कि राजा को तो सब के भरण-पोषण का बोझ उठाना होता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में हमने भीष्म को युधिष्ठिर से यह आग्रह करते सुना है कि वे ऐसे महान् गृहस्थ बनें जिसकी भरण वृत्ति से उनके भृत्य तो फले-फूलें हीं, साथ ही जिनका अन्य कोई भर्ता न हो वे भी भरण-पोषण पा जायें। इस सम्बन्ध में हमने भीष्म पितामह का जो वाक्य उद्धृत किया है, अभृतानां भवेद् भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः, वह शान्ति पर्व के प्रायः प्रारम्भ में ही आता है। जैसा कि सर्वविदित है भीष्म पितामह का यह उपदेश प्रायः सम्पूर्ण शान्ति पर्व और सम्पूर्ण अनुशासन पर्व में चलता है। इस इतने विस्तृत उपदेश के अन्त में हम भीष्म को युधिष्ठिर के लिये इस प्रकार आशीर्वाद देते हुए सुनते हैं –

क्षत्रधर्मरतः पार्थ पितॄन् देवांश्च तर्पय।
श्रेयसा योक्ष्यसे चैव व्येतु ते मानसो ज्वरः।
रञ्जयस्व प्रजाः सर्वाः प्रकृतीः परिसान्त्वय।
सृहृदः फलसत्कारैरर्चयस्व यथार्हतः।
अनु त्वां तात जीवन्तु मित्राणि सुहृदस्तथा।
चैत्यस्थाने स्थितं वृक्षं फलवन्तमिव द्विजाः॥[१६]

पृथु के वंशज युधिष्ठिर! क्षत्रिय धर्म में सर्वथा रत रहो। पितरों एवं देवों को तर्पण-होमादि से सन्तुष्ट करते रहो। तुम निश्चय ही श्रेयस् को प्राप्त होओगे। अतः अपने मानसिक ज्वर से मुक्त हो स्वस्थ हो जाओ।

प्रजाओं का रञ्जन करो, उन्हें प्रसन्न रखो। राज्य के सभी अङ्गों को प्रोत्साहन दो। अपने सुहृदों की समुचित सम्मान-सत्कार से एवं उपयुक्त उपहारों से यथेष्ट अर्चना करते रहो।

---

[१६] महाभारत *अनुशासन* १६६.११-१३, पृ.६०९२।

तात युधिष्ठिर! जिस प्रकार चैत्यस्थान में खड़े किसी फलवान् वृक्ष पर अनेक पक्षी आश्रय पाते हैं वैसे ही अनेक सुहृद्-मित्र तुम्हारे आश्रय में जीवन निर्वाह करें।

निराश्रयों का आश्रय

राजा के सब के भरणकर्ता गृहस्थ वाले रूप के लिये चैत्यस्थान पर खड़े फलवान् वृक्ष की उपमा विशेषतः सटीक है। वैसे तो सब गृहस्थ फलों से लदे घने वृक्ष के समान ही होते हैं, उनके घर पर आने वाले सब को अशन एवं आश्रय मिलता ही है। परन्तु सामान्य गृहस्थ अपने गृह के आङ्गन में उगे वृक्ष के समान है, उसके घर-द्वार की पहुँच में आने वालों का ही वहाँ भरण-पोषण हो पाता है। दूसरी ओर राजसी गृहस्थ तो चैत्यस्थान पर, सार्वजनिक स्थल पर खड़ा वृक्ष होता है। उसकी भरणवृत्ति की पहुँच की कोई सीमा नहीं होती। उस सार्वजनिक वृक्ष पर तो अशन एवं आश्रय के प्रत्येक अर्थी का स्वागत है। सामान्य गृहस्थ अपने भृत्यों का और अपने आङ्गन तक आने वाले अतिथियों का भरण करता है। राजा उन सब का भी भरण करता है जिनका कोई भर्ता नहीं होता, जिनका अपना कोई घर-आङ्गन नहीं होता और जिनकी अन्य किसी आङ्गन तक पहुँच नहीं होती।

इस प्रकार निर्बलों एवं दरिद्रों के भरण के प्रति राजा विशेषतः उत्तरदायी होता है। उसे निर्बलों का बल एवं निराश्रयों का आश्रय बनना होता है। शान्ति पर्व के एक प्रारम्भिक अध्याय में भीष्म युधिष्ठिर को राजोचित पुर एवं गृह-द्वार बसाने के अनुशासन की शिक्षा देते हुए राजा के निर्बलों एवं दरिद्रों के प्रति विशेष दायित्व की ओर युधिष्ठिर का ध्यान आकृष्ट करते हैं। इस सन्दर्भ में भीष्म पितामह का निर्देश है –

> कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम्।
> योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत्॥[१७]
>
> दीन-दरिद्र, अनाथ एवं वृद्ध जनों और विधवा स्त्रियों के लिये समुचित साधनों के सञ्चय, उनके सञ्चित साधनों के संरक्षण एवं उनकी दिन प्रति दिन की जीविका का प्रबन्ध तो सदैव ही करते रहना चाहिये।

अग्निपुराण, मत्स्यपुराण और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में राजाओं के अनुशासन के सन्दर्भ में

[१७] महाभारत *शान्ति* ८६.२४, पृ.४६४८।

भीष्म पितामह के इस निर्देश को प्रायः इन्हीं शब्दों में पुनः कहा गया है।[१८] गौतम इसी अनुशासन को अनुल्लङ्घनीय आदेशवाक्य में व्यक्त करते हैं। गौतमधर्मसूत्र का आदेश है – बिभृयाद्ब्राह्मणान् श्रोत्रियान्, ब्राह्मणों एवं श्रोत्रियों का भरण-पोषण करो और, निरुत्साहांश्चाब्राह्मणान्, ब्राह्मणों से इतर जो जन साधन एवं वृत्ति से विहीन हों उन सब का भी भरण-पोषण करो।[१९]

आर्ष साहित्य में राजा के सभी साधनहीन लोगों का भरण करने के धर्म की शिक्षा विभिन्न अवसरों पर विभिन्न रूपों में पुनः पुनः दी जाती है। स्वयं भीष्म पितामह युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए उपरोक्त वाक्य के किञ्चित् ही अनन्तर इसी शिक्षा को कुछ भिन्न रूप में पुनः प्रतिपादित करते हैं। इस अवसर पर, पूर्वकाल में ऋषि उतथ्य द्वारा राजा मान्धाता को दी गयी शिक्षा का उद्धरण देते हुए भीष्म कहते हैं –

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्बलान् नरान्।
तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्म उच्यते ॥[२०]

राजा जब सब वस्तुओं में से दुर्बल जनों के लिये समुचित भाग निकालने के उपरान्त ही स्वयं उन वस्तुओं का उपभोग करता है तब दुर्बल भी बलवान् हो जाते हैं। इसी को राजा का धर्म कहा जाता है।

कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्जति।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥[२१]

जब राजा दीन-दरिद्रों, अनाथों एवं वृद्धों के अश्रु पोंछता है और प्रजा के हृदय में हर्ष का सञ्चार करता है, तो वह धर्मसम्मत कार्य ही करता है। ऐसे व्यवहार को ही राजा का धर्म कहा गया है।

दुर्बलों के बल के स्रोत के रूप में राजा की जो छवि ऋषि उतथ्य राजा मान्धाता के समक्ष रखते हैं, वह भी आर्ष साहित्य में अनेक अवसरों एवं अनेक स्थानों पर उभरती दिखायी देती है। इस प्रकार पद्मपुराण में इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि –

---

[१८] अग्नि २२५.२५, पृ.१०५४, मत्स्य २१५.६१, पृ.२४४, विष्णुधर्मोत्तर २.६५.५४, पृ.२२१।
[१९] गौतम १०.९-१०, पृ.१५९-६०।
[२०] महाभारत *शान्ति* ९१.३३, पृ.४६६१।
[२१] महाभारत *शान्ति* ९१.३८, पृ.४६६१।

दुर्बलस्य त्वनाथस्य राजा भवति वै बलम्।
अचक्षुषो भवेच्चक्षुरगतौ च गतिर्भवेत्॥[२२]

राजा निर्बलों का बल एवं अनाथों का नाथ होता है। अन्धों के लिये राजा ही चक्षु बन जाता है। वस्तुतः जिन की अन्य कहीं गति नहीं होती वे भी राजा से गति प्राप्त कर जाते हैं।

दुर्बलों एवं निराश्रयों के प्रति राजा के विशेष दायित्व के इस विशिष्ट भारतीय बोध को अग्निपुराण में और भी भावपूर्ण अभिव्यक्ति दी गयी है। अग्निपुराण राजा को परामर्श देता है कि वह उस जलगर्भित मेघ के समान बन जाये जिससे सम्पूर्ण पृथिवी रसाविष्ट हो सन्तुष्टि को प्राप्त होती है। अग्निपुराण का आदेश है – आजीव्यः सर्वसत्त्वानां राजा पर्जन्यवद्भवेत्।[२३] धर्मनिष्ठ राजा के लिये जलगर्भित मेघ की उपमा केवल अग्निपुराण में ही नहीं पायी जाती। यह भी राजा के सम्बन्ध में आर्ष साहित्य की प्रिय छवि है। इसी छवि को उभारते हुए व्यासस्मृति में कहा गया है – पर्जन्य इव लोकानामाधारः पृथिवीपतिः।[२४]

रघुवंश में महाकवि कालिदास राजा की सब को रसाविष्ट कर देने वाली इस छवि को एक अन्य उपमा के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। राजा दिलीप की सम्पूर्ण पृथिवी के भरणकर्ता सूर्य से उपमा देते हुए कालिदास कहते हैं –

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥[२५]

जिस प्रकार सूर्य पृथिवी से आकृष्ट रस को सहस्रगुण कर पृथिवी पर ही बरसा देता है, वैसे ही राजा दिलीप प्रजा के वैभव की वृद्धि के लिये ही उनसे अपना अंश लेकर उसे सहस्रगुण लौटा देते थे।

राजा प्रजा की समृद्धि एवं कुशल-क्षेम में बहुशः वृद्धि करके ही प्रजा की आय से अपना अंश पाने का अधिकारी होता है। वस्तुतः प्रजा से अंश ग्रहण करके वह सम्पूर्ण प्रजा के भरण-पोषण के लिये उत्तरदायी हो जाता है। राजा की भूमिका के सम्बन्ध में यही सनातन भारतीय बोध है।

---

[२२] पद्म १.३७.८८, पृ.१११।
[२३] अग्नि २३९.४३, पृ.११२४, इसी सन्दर्भ में देखिये, कामन्दकी ५.६०, पृ.१२९।
[२४] राजनीति पृ.४, इसी सन्दर्भ में देखिये, कामन्दकी १.१३, पृ.१२।
[२५] रघुवंश १.१८, पृ.८।

निराश्रितों का आश्रय

वार्ता एवं कृषि का संरक्षक

भरण-पोषण के साधनों से वञ्चित सब जनों के भरण का प्रबन्ध करने के अनुल्लङ्घनीय दायित्व का समुचित निर्वाह करने के प्रति सजग भारतीय राजा सर्वदा ऐसा प्रयास करते आये हैं कि उनके राज्य में सर्वत्र सुभिक्ष एवं समृद्धि का प्रसार होता रहे, और कहीं कोई दरिद्र अथवा वृत्तिरहित न रहे। धर्मनिष्ठ राजा से सर्वदा यह अपेक्षा की जाती रही है कि प्रजा की जीविका के निर्वाह से सम्बन्धित कार्यों में वह किसी प्रकार का अवरोध नहीं आने देगा, प्रजा की जीविका का संरक्षण करता रहेगा।

सम्प्रति जिन कार्यकलापों को हम अर्थव्यवस्था की संज्ञा देते हैं, उन्हें भारतीय परम्परा में 'वार्ता' के नाम से जाना जाता रहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य तीनों ही वार्ता हैं, कृषिपशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता।[२६] वार्ता के ये तीन अङ्ग ही मुख्य आर्थिक कार्य होते हैं, प्रजा की जीविका के यही मुख्य साधन हैं, और आर्ष साहित्य में राजा को धर्म एवं वार्ता दोनों का ही संरक्षक माना गया है। उदाहरणतः, इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्यस्मृति का प्रतिपादन है कि प्रजा का परिपालन ही राजा का प्रधान कर्तव्य हुआ करता है, प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम्, और विज्ञानेश्वर अपने 'मिताक्षरा' भाष्य में याज्ञवल्क्य के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट करते हैं कि प्रजा के परिपालन का अर्थ धर्म एवं जीविका दोनों का ही संरक्षण करना होता है – क्षत्रियस्य प्रजापालनं प्रधानं कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च।[२७]

इसी प्रसङ्ग में कामन्दकीय नीतिसार का प्रतिपादन कदाचित् और भी सुस्पष्ट है। वहाँ कहा गया है –

> आयत्तं रक्षणं राज्ञि वार्ता रक्षणमाश्रिता।
> वार्ताच्छेदे हि लोकोऽयं श्वसन्नपि न जीवति ॥[२८]
>
> प्रजा एवं राष्ट्र का रक्षण राजा के अधीन होता है और वार्ता रक्षण के अधीन होती है। राजा से रक्षण सम्भव होता है और रक्षण से ही वार्ता सम्भव होती है। वार्ता के अवरुद्ध होने पर तो यह लोक मृतवत् ही हो जाता है, ऐसी स्थिति में प्रजा साँस लेते हुए भी जीवित तो नहीं मानी जा सकती।

---

[२६] अर्थशास्त्र १.४.१, पृ.१५।
[२७] याज्ञवल्क्य १.११९, पृ.५३।
[२८] कामन्दकी १.१२, पृ.११-१२।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

वार्ता एवं कृषि का संरक्षक

वार्ता के महत्त्व का इतना गहन बोध रखते हुए भारतीय ऋषि-मुनि अपने अनुयायी राजाओं को वार्ता के और विशेषतः कृषि के संरक्षण की शिक्षा सतत देते रहते हैं। स्वयं भीष्म पितामह भी युधिष्ठिर को इस विषय में पुनः पुनः सतर्क करते रहते हैं। शान्ति पर्व के एक प्रायः प्रारम्भिक अध्याय में युधिष्ठिर के लिये वार्ता एवं विशेषतः कृषि के महत्त्व का विशद विवेचन करते हुए वे कहते हैं –

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम् ॥[२९]

कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य तो इस लोक में प्रजा का जीवन ही हैं।

कच्चित् ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः।
क्रीणन्तो बहुनाल्पेन कान्तारकृतविश्रमाः ॥[३०]

कहीं ऐसा तो नहीं कि जो वैश्य लोग ऊँचे-नीचे भाव पर वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते हुए अनेक दुर्गम प्रदेशों में घूमते रहते हैं, वही तुम्हारे राष्ट्र में असह्य कर के बोझ से उद्विग्न हो रहे हों?

कच्चित् कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः।
ये वहन्ति धुरं राज्ञां ते भरन्तीतरानपि।
इतो दत्तेन जीवन्ति देवाः पितृगणास्तथा।
मानुषोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥[३१]

कहीं कृषक तुम्हारे असह्य आहरण से पीड़ित हो राष्ट्र छोड़कर तो नहीं जा रहे? निश्चय ही कृषक ही राजा का बोझ अपने कन्धों पर उठाते हैं और वही राष्ट्र में अन्य सब का भरण करते हैं। उनके दिये अन्न से ही देवता एवं पितर और मनुष्य, गन्धर्व, राक्षस, पशु एवं पक्षी सब-के-सब जीवन धारण करते हैं।

भीष्म पितामह के इस उपदेश से बहुत पहले महाभारत के सभा पर्व में जब नारदमुनि युधिष्ठिर को मिलने इन्द्रप्रस्थ आते हैं, तब वे भी राष्ट्र के विभिन्न पक्षों के कुशल-मङ्गल की ओर युधिष्ठिर का ध्यान आकृष्ट करते हुए उनसे कृषि के संरक्षित एवं सुव्यवस्थित होने के विषय में विशेष विस्तार से पूछते हैं। नारदमुनि कहते हैं –

---

[२९] महाभारत *शान्ति* ८९.७, पृ.४६५५।
[३०] महाभारत *शान्ति* ८९.२३, पृ.४६५६।
[३१] महाभारत *शान्ति* ८९.२४-२५, पृ.४६५६।

निराश्रितों का आश्रय

कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित् तुष्टाः कृषीवलाः।
कच्चिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका।
कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम्।
कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते॥[३२]

तात युधिष्ठिर! चोरों और लोभियों से अथवा राजघराने के कुमारों और स्त्रियों से अथवा स्वयं तुम से ही कहीं राष्ट्र की प्रजा पीड़ित तो नहीं हो रही? तुम्हारे राज्य में किसान सन्तुष्ट तो हैं?

तुम्हारे राज्य के सभी भागों में खेतों की सिञ्चाई के लिये विशाल तडाग तो बना दिये गये हैं न? ये सब तडाग जल से परिपूर्ण तो रहते हैं? कहीं कृषि मात्र वर्षा के जल पर तो निर्भर नहीं? खेती को दैव पर ही तो नहीं छोड़ दिया गया?

कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम्हारे राज्य के कृषक अन्न अथवा बीज के अभाव में कष्ट पा रहे हों? ऐसी स्थिति में तुम उन पर अनुग्रह कर एक प्रतिशत व्याज पर ऋण तो दिया करते हो न?

तात! तुम्हारे राष्ट्र में सत्पुरुष वार्ता का भली-भाँति वहन तो कर रहे हैं न? यह लोक तो तात! वार्ता का अवलम्बन लेकर ही सुख-समृद्धि को प्राप्त होता है।

वाल्मीकीय रामायण में भरत श्रीराम को मिलने जब चित्रकूट पहुँचते हैं तब श्रीराम उनसे कोशलराज्य के कुशल-क्षेम के विषय में वैसे ही विस्तृत प्रश्न पूछते हैं जैसे नारदमुनि सभा पर्व में युधिष्ठिर से पूछ रहे हैं। परन्तु श्रीराम के प्रश्न कोशलदेश के सौन्दर्य, समृद्धि एवं सुव्यवस्था की उनकी निजी स्मृतियों से आविष्ट हैं। श्रीराम पूछते हैं –

कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभितः।

[३२] महाभारत *सभा* ५.७७-८०, पृ.६८१।

वार्ता एवं कृषि का संरक्षक

प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः।
सुकृष्टसीमापशुमान् हिंसाभिरभिवर्जितः।
अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः।
परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः।
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ।।[३३]

रघुकुल के भरत! जिस अपने कोशल देश में शत-शत चैत्यस्थान हैं, जो सुव्यवस्थित बस रहे असंख्य जनों से आकीर्ण है, अनेक देवस्थान, प्रपात एवं तडाग जिसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, जहाँ के नर-नारी सदैव प्रसन्न रहते हैं, सामाजिक उत्सवों से जो सदा सुशोभित होता रहता है, जो कृषि करने में समर्थ स्वस्थ पशुओं से भरा-पूरा है, जहाँ हिंसा वर्जित है, जहाँ खेती मात्र वर्षा के जल पर निर्भर नहीं रहती, जिस रम्य देश में हिंसक पशु प्रवेश नहीं कर पाते, जहाँ किसी को किसी प्रकार का भय नहीं रहता, जो विभिन्न प्रकार की खानों से सुशोभित है, जहाँ पापी मनुष्य कदापि नहीं रहा करते और जो हमारे पूर्वजों से सर्वदा सुरक्षित होता रहा है, ऐसा अपना कोशलदेश भरत! सुख-समृद्धि से सम्पन्न तो है? वहाँ सब सुखपूर्वक बस रहे हैं न?

कोशलदेश एवं वहाँ के लोगों के कुशल-क्षेम के प्रति इस प्रकार स्नेहसिक्त प्रश्न पूछने के अनन्तर श्रीराम कोशल में वार्ता के सुव्यवस्थित निर्वाह के प्रति विशेष चिन्ता व्यक्त करते हुए भरत से कहते हैं –

कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते।
तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित् ते भरणं कृतम् ।।[३४]

तात भरत! कृषि एवं गोरक्षा ही जिनका जीवन है, ऐसे सब वैश्य तुम्हारे विशेष प्रीतिपात्र तो हैं न? वार्ता का अवलम्बन लेकर ही यह लोक सुख-समृद्धि को प्राप्त होता है। इसलिये वार्ता में संलग्न लोगों का तुम्हें विशेष सावधानीपूर्वक भरण करना चाहिये, उनके इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के निवारण के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये।

[३३] रामायण *अयोध्या* १००.४३-४६, पृ.४४६।
[३४] रामायण *अयोध्या* १००.४७-४८, पृ.४४६।

निराश्रितों का आश्रय

काल का संरक्षक

भीष्म पितामह जैसे उच्च विद्वान्, नारद जैसे दिव्य मुनि और भारतीय परम्परा के आदर्श राजा स्वयं श्रीराम इस भूमि के राजाओं को वार्ता का सर्वदा सावधानीपूर्वक संरक्षण करते रहने की शिक्षा दे गये हैं। उन्होंने भारत के राजाओं को यह आदेश भी दिया है कि वे कृषि सम्बन्धी ऐसी सुव्यवस्था करें जिससे सूखे के समय भी सुभिक्ष बना रहे और किसी भी परिस्थिति में कृषक पीड़ित न हों। उनकी इस शिक्षा एवं आदेश का सतर्कता से पालन करने में ही भारतीय परम्परा के राजा अपना कल्याण देखते रहे हैं। उन्हें सर्वदा यह भान रहा है कि आर्षबोध के अनुसार तो अल्प परिमाण एवं असमय वर्षा होने और ऋतुओं के विकृत होने का दायित्व भी राजा पर ही आता है। धर्मनिष्ठ राजा के राज्य में विपुल एवं समयोचित वर्षा होती है और ऋतुएँ अपने सहज सौम्य एवं कल्याणकारी रूप में स्थित रहती हैं। धर्मच्युत राजा के राज्य में तो ऋतुएँ ही अपने स्वभाव से च्युत होने लगती हैं, काल ही विकृत हो जाता है।

इसीलिये आर्ष साहित्य में राजा को काल का कारण कहा गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म पितामह राजा के विषय में इस भारतीय बोध का पाठ युधिष्ठिर को अत्यन्त स्पष्टता से पढ़ा देना चाहते हैं। इस सन्दर्भ में वे युधिष्ठिर को बताते हैं –

> कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
> इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥[३५]
>
> काल राजा का कारण होता है या राजा काल का कारण होता है? इस विषय में तुम्हें किञ्चित् भी संशय में नहीं रहना चाहिये। निश्चय ही राजा ही काल का कारण होता है, उसी के भले-बुरे कर्मों से भले-बुरे समय का प्रादुर्भाव होता है।

आगे भीष्म युधिष्ठिर को समझाते हैं कि जब कोई धर्मनिष्ठ राजा पृथिवी पर राज्य करता है तब मानो कृतयुग का ही प्रादुर्भाव हो जाता है, उस समय ऋतुएँ कल्याणकारी हो जाती हैं, भूमि प्रभूत अन्न उपजाती है और सब नर-नारी स्वस्थ-सुखमय जीवन व्यतीत करते हुए दीर्घायु होते हैं। दूसरी ओर, जब धर्मविहीन राजा राज्य करता है तो काल कलियुग-सा हो जाता है, तब अल्प एवं असमय वर्षा होती है, खेतों में अनाज सूख जाता है और नर-नारी रोग से पीड़ित एवं दरिद्र जीवन जीकर असमय ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

---

[३५] महाभारत *शान्ति* ६९.७९, पृ.४६०७।

इस प्रकार जिन्हें प्राकृतिक अथवा दैविक कारण कहा जाता है उनसे व्यापे दारिद्र्य एवं क्षुधा के पाप का बोझ भी राजा को ही ढोना होता है। भारतीय बोध में राजा का यह अनुल्लङ्घनीय दायित्व है कि वह अपने राज्य में किसी को क्षुधा अथवा दारिद्र्य से पीड़ित नहीं रहने दे। राजा को यह दायित्व सब परिस्थितियों में निभाना होता है। प्राकृतिक परिस्थितियों के विकृत होने पर वह भरण के अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो जाता, अपितु उस विकृति का कारण भी उसे अपने ही कृत्यों में ढूँढना होता है। किसी भी कारण से प्रजा के भरण के दायित्व से च्युत हुआ राजा निश्चय ही अधम गति को प्राप्त होता है और उसका राज्य तो शीघ्र ही उसके अधिकार से निकल ही जाता है। इस अध्याय में पहले एक स्थान पर ऋषि उतथ्य की राजा मान्धाता को राजधर्म विषयक शिक्षा का प्रसङ्ग आया है। उसी प्रसङ्ग में ऋषि उतथ्य राजा मान्धाता को यह भी बताते हैं कि कैसे प्रजा की क्षुधाग्नि राजा को ही जलाकर भस्म कर दिया करती है। ऋषि उतथ्य का वचन है –

युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा इव।
अभीक्ष्णं भिक्षुरूपेण राजानं घ्नन्ति तादृशाः ॥[३६]

जब जनपदों के लोग भिक्षुओं का रूप बनाकर ब्राह्मणों के समान भिक्षा माँगते हुए घूमते हैं तब उन का इस प्रकार माँगने पर विवश होना निश्चय ही उस राज्य के राजा का विनाश कर डालता है।

भीष्म एवं उतथ्य धर्मविहीन राजा के कारण उपस्थित होने वाले काल का जो वर्णन करते हैं वह युगक्षय की स्थिति-सा ही है, उस काल के समान है जब कलियुग के बहुत आगे बढ़ जाने पर जगत् सब प्रकार से ह्रासोन्मुख दिखायी देता है। वन पर्व में ऋषि मार्कण्डेय युधिष्ठिर के लिये युगक्षय के समय जगत् की स्थिति का विशद वर्णन करते हैं। ऋषि मार्कण्डेय का कहना है–

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः।
केशशूलाः स्त्रियश्चापि भविष्यन्ति युगक्षये ॥[३७]

युगक्षय का काल आने पर जनपदों के लोग अन्न का, ब्राह्मण वेद का और स्त्रियाँ अपने शरीर का व्यापार करने पर विवश हो जायेंगी।

[३६] महाभारत *शान्ति* ९१.२३, पृ.४६६०।
[३७] महाभारत *वन* १९०.५२, पृ.१४९७।

निराश्रितों का आश्रय

युगान्ते हुतभुक् चापि सर्वतः प्रज्वलिष्यति।
पानीयं भोजनं चापि याचमानास्तदाध्वगाः।
न लप्स्यन्ते निवासं च निरस्ताः पथि शेरते॥[३८]

कलियुग का अन्तकाल निकट आने पर सब ओर एक सर्वभक्षी अग्नि धधक उठेगी। उस समय याचना करने पर भी पथिकों को कोई भोजन एवं जल नहीं देगा। इस प्रकार सब ओर से तिरस्कृत एवं आश्रयविहीन हो वे पथ पर ही सोये हुए दिखायी देंगे।

कलियुग के चरम पर पहुँचने पर जगत् की ऐसी क्षीण स्थिति हो जाती है, और ठीक वैसी ही स्थिति तब भी उपस्थित होती है जब कोई धर्मविहीन राजा पृथिवी पर राज्य करने लगता है। राजारूपी महान् गृहस्थ को सर्वदा यह सुनिश्चित करना चाहिये कि उसके राज्य में कदापि ऐसी स्थिति न आये, कभी काल ऐसा विकृत न हो कि अनेक लोग अशन एवं आश्रय की याचना करते हुए इधर-उधर घूमने लगें और राज्य के सामान्य गृहस्थ दारिद्र्य एवं अभाव से ऐसे क्षीण हो जायें कि वे अपने द्वार पर आकर याचना करने वालों को भी आश्रय अथवा भोजन न देने जैसा अकल्पनीय अपराध करने लगें।

असिधारा पर चलना

भारतीय परम्परा के राजा की भूमिका निश्चय ही विकट है। क्षत्र धारण करने एवं राज्य की आय में अपना सीमित भाग पाने के अधिकार के प्रतिफलस्वरूप उसे राज्य में सर्वत्र धर्म एवं वार्ता के संरक्षण का बोझ उठाना होता है, सब प्रकार के दारिद्र्य एवं अभाव के प्रतिकार का सतत प्रयास करना होता है और ऋतुओं एवं काल की विकृति के प्रति सदा सजग रहना होता है। वस्तुतः भारतीय बोध में तो राजा से यही अपेक्षा रहती है कि वह अपने हित, अपने सुख और यहाँ तक कि अपने अस्तित्व को प्रजा के हित एवं सुख में लीन कर दे। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र के प्रायः प्रारम्भ में ही राजा के दायित्व सम्बन्धी इस भारतीय बोध को सुस्पष्ट अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं –

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥[३९]

---

[३८] महाभारत *वन* १९०.८३-८४, पृ.१४९९।
[३९] अर्थशास्त्र १.१९.४३, पृ.५९।

असिधारा पर चलना

प्रजा के सुख में ही राजा का सुख विहित है और प्रजा के हित में ही राजा का हित। राजा का हित उसमें नहीं जो स्वयं उसे प्रिय लगता है, अपितु उसी में है जो प्रजा को प्रिय हो।

प्रजा के सुख एवं हित में अपने सुख-हित एवं अपने आप को ही लीन कर देने के राजा के इस कर्तव्य को भवभूति की सुविख्यात साहित्यिक कृति उत्तररामचरित में अत्यन्त हृदयग्राही रूप में प्रस्तुत किया गया है। वहाँ ऋषि अष्टावक्र राजाओं के धर्मसम्बन्धी वसिष्ठ मुनि की शिक्षा श्रीराम को सुनाते हुए कहते हैं –

युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्याः स्वस्माद्यशो यत्परमं धनं वः ।।[४०]

अपने आप को प्रजा के रञ्जन में, प्रजा को प्रसन्न एवं सुखी रखने में नियुक्त कर दो। क्योंकि प्रजा की प्रसन्नता एवं सुख से जो यश राजा को प्राप्त होता है वह स्वयं अपनी रक्षा करने से भी अधिक मूल्यवान् है।

वसिष्ठ मुनि की यह शिक्षा सुनकर श्रीराम उत्तर देते हैं –

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ।।[४१]

प्रजा की आराधना में मुझे स्नेह, दया एवं सुख से वञ्चित होना पड़े तो मुझे कोई दुःख नहीं होगा। प्रजा की आराधना में तो मैं जानकी से वियोग का दुःख भी सह सकता हूँ।

भारतीय परम्परा में धर्मनिष्ठ राजाओं से प्रजा के हित में ऐसे आत्म उत्सर्ग की अपेक्षा रखी गयी है। राजाओं को यहाँ ऐसा निःस्वार्थ जीवन जीना होता है । महाभारत में अनुशासन पर्व के एक सङ्क्षिप्त अपितु अत्यन्त भावप्रवण अध्याय में भीष्म पितामह राजाओं के इस विकट अनुशासन का सार युधिष्ठिर को समझाते हुए कहते हैं –

रौद्रं कर्म क्षत्रियस्य सततं तात वर्तते।
तस्य वैतानिकं कर्म दानं चैवेह पावनम् ।।[४२]

---

[४०] उत्तररामचरित १.११, पृ.१०।
[४१] उत्तररामचरित १.१२, पृ.१०।
[४२] महाभारत *अनुशासन* ६१.४, पृ.५६६१।

निराश्रितों का आश्रय

तात युधिष्ठिर! क्षत्रिय को सतत हिंसायुक्त कठोर कर्मों में प्रवृत्त होना पड़ता है। उसका यह दूषण केवल उदारतापूर्वक दान करने और वैदिक यज्ञों का सम्पादन करने से ही धुलता है।

वृद्धबालधनं रक्ष्यमन्धस्य कृपणस्य च।
न खातपूर्वं कुर्वीत न रुदन्ती धनं हरेत्।
हृतं कृपणवित्तं हि राष्ट्रं हन्ति नृपश्रियम्।
दद्याच्च महतो भोगान् क्षुद्भयं प्रणुदेत् सताम्।
येषां स्वादूनि भोज्यानि समवेक्ष्यन्ति बालकाः।
नाश्नन्ति विधिवत् तानि किं नु पापतरं ततः।
यदि ते तादृशो राष्ट्रे विद्वान् सीदेत् क्षुधा द्विजः।
भ्रूणहत्यां च गच्छेथाः कृत्वा पापमिवोत्तमम्।
धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति।
द्विजोऽन्यो वा मनुष्योऽपि शिबिराह वचो यथा।
यस्य स्म विषये राज्ञः स्नातकः सीदति क्षुधा।
अवृद्धिमेति तद्राष्ट्रं विन्दते सहराजकम्।
क्रोशन्त्यो यस्य वै राष्ट्रादिध्रयन्ते तरसा स्त्रियः।
क्रोशतां पतिपुत्राणां मृतोऽसौ न च जीवति॥[४३]

राजा को वृद्ध, बालक, दरिद्र एवं ज्योतिहीन जनों के धन की विशेषतः रक्षा करनी चाहिये। अपने दुःख में रोती हुई किसी अबला स्त्री से राजा को कदापि कोई धन नहीं लेना चाहिये और न ही उन कृषकों से, जिन्होंने स्वयं अपने प्रयास से कुआं खोदकर सिञ्चाई का प्रबन्ध किया हो।

दरिद्र से छीना गया धन राजा को श्रीहीन कर देता है और राष्ट्र के विनाश का कारण बनता है। इसलिये दरिद्रों के धन से भाग लेने के स्थान पर राजा को उन्हें महान् सुख-साधनों से सम्पन्न करना चाहिये और सज्जन प्रजा को क्षुधा के भय से सर्वथा मुक्त करने का प्रयास करना चाहिये।

[४३] महाभारत *अनुशासन* ६१.२५-३१, पृ.५६६२-३।

Centre for Policy Studies *www.cpsindia.org*

जब बालक अन्यों को स्वादु भोजन खाते देख रहे हों और उन्हें वही खाना विधिवत् परोसा न जाता हो, तो उससे भीषण पाप और क्या हो सकता है?

राजा युधिष्ठिर! तुम्हारे राज्य में यदि एक भी विद्वान् द्विज भूख से पीड़ा पाता है तो तुम भ्रूणहत्या के समान पाप के भागी होओगे और महान् पाप करने वालों की जो गति होती है वैसी ही अधम गति को तुम प्राप्त होओगे। इस सन्दर्भ में राजा शिबि कह ही गये हैं कि जिस राजा के राज्य में एक भी द्विज या अन्य कोई भी भूख की पीड़ा सहने को विवश होता है उस राजा को धिक्कार है, ऐसे राजा का जीना तो व्यर्थ ही है।

जिस राजा के राज्य में एक भी स्नातक भूख से दुःख पाता है वह राष्ट्र अवनति को प्राप्त होता है। ऐसा राज्य निश्चय ही अन्य राजाओं के अधीन हो जाता है।

जिस राजा के राज्य में रोती-बिलखती स्त्रियों का बलपूर्वक हरण कर लिया जाता है और उनके पति एवं पुत्र पीटते-चिल्लाते ही रह जाते हैं, वह राजा तो मृत ही है। निश्चय ही उसे जीवित तो नहीं माना जा सकता।

अन्त में भीष्म कहते हैं –

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम्।
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः॥[४४]

जो राजा प्रजा एवं राष्ट्र का रक्षण नहीं करता, जो प्रजा से अन्यायपूर्वक धन का हरण करता है, जो जीविका के साधनों के लोप का कारण बनता है और जो प्रजा को नेतृत्व नहीं दे पाता, ऐसा राजा निश्चय ही स्वयं कलि के समान है। प्रजा को चाहिये कि ऐसे राजा को घेर-घार कर मार डाले।

प्रजा की रक्षा करने का वचन देकर जो राजा रक्षा नहीं करता वह तो प्रजा द्वारा सङ्गठित होकर विक्षिप्त एवं रोगी कुत्ते के समान मार दिये जाने योग्य ही है।

[४४] महाभारत *अनुशासन* ६१.३२-३३, पृ.५६६३।